

शिक्षा का सच

प्रेमपाल शर्मा

सचमुच शिक्षा का सच जिन किताबों में है, भारतीय बच्चों की उन तक पहुंच लगातार मुश्किल होती जा रही है। ऐसे अदृश्य अवरोध हैं कि उनकी चर्चा तक शहरी बुद्धिजीवियों, शिक्षकों के बीच धीरे-धीरे गायब होती जा रही है। यहां अदृश्य अवरोध से तात्पर्य अपनी भाषा की किताबों से है। हिन्दी भाषी क्षेत्र में स्थित दिल्ली जैसे शहर में किताबों की (स्कूल, कॉलेज पाठ्यक्रम) किसी भी दुकान में आप एक सदमे से घिरते जाएंगे। किताबों की कमी नहीं है लेकिन अपनी भाषा हिन्दी की अच्छी किताब ढूँढ़े नहीं मिलेगी। होगी भी तो भीतर किसी एकांत कोने में। प्रतिशत में बयान करें तो एक प्रतिशत से ज्यादा नहीं, वह भी कोर्स की मजबूरी में। सिर्फ कोर्स की। लेकिन अंग्रेजी में दुनिया भर का साहित्य, यात्रा, डायरी। उपन्यासों की तो अलमारी दर अलमारी देश-विदेश सभी। कुछ तो दिल्ली के अंग्रेजीदां पब्लिक स्कूलों में पाठ्यक्रम में जबरन लगा रखी हैं- अतिरिक्त- अध्ययन के रूप में। कोई बुरी बात नहीं है लेकिन क्या अतिरिक्त अध्ययन सिर्फ अंग्रेजी में ही उपलब्ध है? हिन्दी या दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं। ये शहरी बच्चे इन अंग्रेजी की दोयम-तीसरे दर्जे की किताबों से अपने देश-समाज-परिवेश को कितना जानेंगे? कहां गया 2005 का एनसीईआरटी का 2005 एन.सी.एफ घोषणा पत्र जो बार-बार कहता है कि 'स्कूल की दिवारों और बाहर के परिवेश में अंतर कम से कम होना चाहिए।' क्या स्कूल प्रबंधन, उसके शिक्षक, अभिभावक परिवेश और शिक्षा के इस अंतर संबंध को समझते भी हैं? या जरूरत ही नहीं है या अंग्रेजी की राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक स्वीकृति ने ऐसे प्रश्नों सुझावों को गौर करने लायक ही नहीं समझा। याद आ रहे हैं हाल ही में दिवंगत प्रोफेसर यशपाल और उनकी रिपोर्ट 'बस्ते का बोझ' (1992) अंग्रेजी की ऐसी ही किताबों के बोझ के नीचे तो शिक्षा, स्कूलों का पाटा बच्चों को कुचल रहा है। आश्चर्य है कि वह मध्यमवर्ग जिसकी नस-नस में 'केलकूलेशन' भरी हुई है स्कूल की इन किताबों में... ठगी पर कबूतर की तरह आंखें मूंद लेता है। अंग्रेजी के सुनहरे सपने में खोया हुआ।

I

इस टिप्पणी की जरूरत एकलब्ध से हाल ही में प्रकाशित छोटी-छोटी और अपेक्षाकृत सस्ती किताबों से गुजरते हुए पैदा हुई। केरन हेडाक की 'जंगली सरसों के उपहार' (मूल अंग्रेजी से अनुवाद) बच्चों में विज्ञान की इसी समझ को बढ़ाने के लिए पहला कदम है। खूबसूरत चित्रों के साथ मनुष्य और धरती पर उगने वाले फलों, फूलों, सब्जियों की विकास यात्रा की परिकल्पना। लेकिन केवल सिद्धांत में नहीं, केरन ने सरसों के पौधे को विज्ञान का पाठ, प्रक्रिया समझाने के लिए विवरण और प्रस्तुति में शामिल किया है कि कैसे कृत्रिम चयन और प्राकृतिक चुनाव काम करता है कैसे सरसों के पौधे के आसपास बंदगोभी, फूलगोभी, मूली, शलजम आदि विकसित होते गए। यहां महत्वपूर्ण पक्ष बच्चों की जिज्ञासा जगाना और स्वयं उत्तर ढूँढ़ने का प्रयास है। विज्ञान



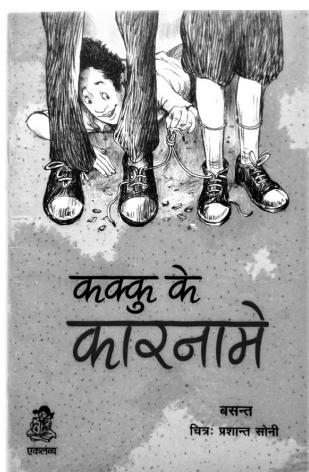
मूल्य: 95 रुपये

का पहला कदम। दरअसल ऐसी सैंकड़ों विषयों की किताबों की जरूरत है और सभी भारतीय भाषाओं में; हम हैं भी तो करोड़ों में धर्म, जाति, क्षेत्रवाद से लेकर... दैनन्दिन... जीवन के सभी प्रश्नों पर ऐसी ही चित्रात्मकता के साथ ज्ञान के भाषण और सिद्धांतों से बचते हुए। लेकिन अफसोस किताब पर छपे विवरण बताते हैं कि केवल 3000 छपी हैं। दिल्ली जैसे शहरों के स्कूल और किताबों की दुकानों में इसकी अच्छाइयों के बाद भी रखने को शायद ही जगह मिले।

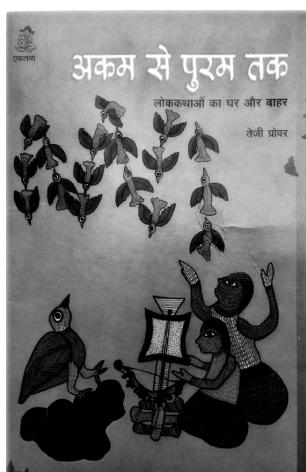
सोच से इतनी बंजर क्यों हो रही हैं। जब ढंग की किताबें, पाठ्यक्रम ही नहीं तो बच्चों का क्या कसूर। हाल ही में दिवंगत एक और वैज्ञानिक पुश्पमित्र भार्गव भी पूरी उम्र वैज्ञानिक सोच को बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहे लेकिन गड़ा धीरे-धीरे बड़ी खाई में तबदील हो रहा है। स्कूली शिक्षा में ऐसी पुस्तकें और उनकी अपनी भाषा में हों तो न तो इन बच्चों को बड़े होकर गणित विज्ञान के फार्मूले घोटने पड़ें और न हम मूल वैज्ञानिक खोजों में दुनिया भर में फिसड़ी रहें।

एकलव्य की ऐसी ही कोशिश ‘कक्कू के कारनामे’ में है। ग्यारह वर्षीय कक्कू के स्कूल की छोटी-छोटी रोजमर्रा की दास्ताने। पढ़ते-पढ़ते आप भी अपने स्कूल के दिनों की इन बातों से रुबरु होते जाएंगे। स्कूल की घंटी बजते ही कैसे पागलपन से हम सब स्कूल छोड़कर भागते हैं। न अध्यापक की बात कोई सुनता न कुछ और। छुट्टी की घंटी सारे बंधन तोड़ देती है। लेकिन सिर्फ छुट्टी का प्रसंग ही नहीं है, दीपू से दोस्ती के खट्टे-मीठे अनुभव, स्टैचू खेल के प्रति प्रतिबद्धता और इन सबके बीच ज्ञानका हमारे शिक्षकों का कूर व्यवहार, छड़ी से पिटाई, धर्म आख्यान को छूटी ताड़का वध, अंग्रेजी पढ़ाई का आतंक, घोड़ी ने दुल्हे को क्यों पटका जैसी लोक कथा का संवाद देते प्रसंग बहुत रोचक बना देते हैं। ऐसी किताबें ही बच्चों में पुस्तक पढ़ने का रस पैदा करती हैं। कोई बच्चा ऐसा नहीं होगा जिसके पास ऐसे मौलिक अनुभव न हों। लिखने का पहला पाठ ऐसी ही पुस्तकों से आता है। भाषा फिर खुद-ब-खुद सीख जाते हैं।

रिनचिन की ‘कहानियों का पेड़’ भी बच्चों की रचनात्मकता के लिए ऑक्सीजन की तरह है। सिर्फ चार कहानियां हैं इसमें ‘कहानियां न होकर सबरी जैसे बच्चे’ के रोजाना के जीवन के टुकड़े हैं। ‘सबरी के रंग में’ चित्रकला के लिए



मूल्य: 35 रुपये



मूल्य: 40 रुपये



मूल्य: 50 रुपये

सभी पुस्तकें एकलव्य प्रकाशन भोपाल से प्रकाशित हैं।

पागल बच्चे की कल्पना और सीमाओं की उड़ान है। हर समय उसे चित्र, उसमें भरे जाने वाले रंग धेरे रहते हैं। कभी रसोई की हल्दी, मिर्च से चित्रों को रंगीन करती है कभी जमीन पर फैली बालू पर आकृतियां बना कर। पते की बात है कहानी के बीच में शिक्षा व्यवस्था, तंत्र पर चुपचाप चोट। सर्वे करने वाले जीप में चढ़कर गांव आए और छोड़ गए बहुत से कागज, कचरा। सबरी के हाथ दो कोरे कागज पड़ गए मानो कुबेर का खजाना मिल गया। उन पर उसके चित्र बहुत सुन्दर बनेंगे। गांव के बच्चों के पास इतनी सामान्य चीजें भी नहीं होतीं और शहर का पढ़ा लिखा इतना कचरा पैदा कर देता है। स्कूली शिक्षा के बिन्दु यहां भी उभरते हैं। सबरी पांचवी में है लेकिन अभी से उसके अंदर अंग्रेजी का डर समा रहा है क्योंकि बड़ी बहन और बड़ा भाई दोनों आठवीं में अंग्रेजी में फेल हो गए थे। अंग्रेजी का क्रूर आतंक। वह सोचती है ‘सिर्फ चित्रकला की परीक्षा क्यों नहीं कर लेते? फिर डर की कोई बात नहीं रहेगी और उसे रंग भी मिल जाएंगे।’ जब भी अध्यापक उनकी अपनी भाषा की शब्दावली में बात करता है सबरी की पूरी क्लास अध्यापक को दोस्त मानने लगती है। अफसोस कि इस ग्लोबल दुनिया के बावजूद भी हमारे स्कूली बच्चों में डर उतना ही व्याप्त है जितना पचास-सौ-दौ सौ साल पहले था। यह तस्वीर पता नहीं कब बदलेगी जब सबरी यदि चित्रकला या साहित्य पढ़ना चाहती है तो वही पढ़े, जबदस्ती कर गणित या अंग्रेजी नहीं। यदि कीजिए वर्ष 2016 में दिल्ली के ग्याहवीं के एक छात्र ने आत्महत्या की थी और यह लिखकर छोड़ा था कि मुझे भौतिकी और गणित पढ़ना मुश्किल लगता है लेकिन मेरे घर वाले मेरी बात सुनते ही नहीं हैं। हमारी पाठशाला है या जेल?

तेजी ग्रोवर की किताब ‘अकम से पुरम तक’ स्पष्ट तौर पर अभिभावकों और शिक्षकों के लिए है कि सभी कहानियां अपने जन्म से लेकर कभी न होने वाले अंत तक बार-बार रूप, कथ्य बदलती हैं। एक मामूली सी लोककथा देस- परदेस में विचरण करते हुए भाषा, चित्र, प्रसंगों के जोड़-तोड़ से कितना अपने मूल को बरकरार रखती है और कितना बदल सकती है। तेजी ग्रोवर ने दर्जनों कहानियों से उदाहरण देकर इसे समझाने की कोशिश की है। किताब की रोचकता भी इन कहानियों से बनी रहती है और पाठक अपने को लगातार समृद्ध करता चलता है। पहला प्रसंग ही अनूठा और बेहद रोचक है जब पति घर के दरवाजे पर उतरे जूतों और अंदर टंगे कोट को देखते ही पत्नी पर शक करने लगता है। लोककथा का आधार तो यह है कि जूते उस महिला के अंदर वर्षों से बंद कहानी का रूप है और कोट ऐसे ही गीतों का। इसका खुलासा भी लालटेन की बत्तियां करती हैं। विलक्षण रूपक। लेकिन सामाजिक संरचना भी उजागर होती हैं। कहानी से अनंत व्याख्याएं संभव हैं इस किस्से में। क्या यह जीवन की सच्चाई के निकट नहीं है कि हमारे अंदर कोई कहानी, जीवनानुभव ऐसा जरूर धंसकर बैठा होता है जिसे हम किसी को नहीं बता सकते हैं। क्या किसी भी लेखक के उपन्यास कहानी के पात्र इन्हीं का विस्तार नहीं होते? इसे निजी फेंटेसी या कल्पना कहकर नहीं टाल सकते। यहीं साहित्य बाजी मार ले जाता है कि कहानी उपन्यास के चरित्र, गढ़े होते हुए प्रसंग भी सच के करीब लगते हैं और इतिहास के तथ्य कई बार वास्तविक होते हुए भी अविश्वसनीय। इस कथा का आधार कन्नड़ के प्रसिद्ध लेखक ए. के. रामानुजन की कहानी है। तेजी ग्रोवर ने बहुत इमानदारी से सभी कथाओं और उनके लेखकों का उल्लेख किया है। जहां से यह लोककथा शामिल की गई है वे हैं, वायू नायदू की ‘फुकारों दोस्त’, ‘काटो नहीं’ (बंगाल), ‘गोल-मोल’ (बिहार), ‘जादुई बर्तन’ (तमिलनाडु), संध्याराव की ‘स्वीट एंड साल्टी’ (आंध्रप्रदेश), ‘मञ्जू-मञ्जू’ (कश्मीर), ‘कुश्ती मस्ती’ (पंजाब) और ममता पांड्या की गुजराती से ‘मुफ्त ही मुफ्त’ आदि। सचमुच ये कथाएं न होती तो पुस्तक का सैद्धांतिक पक्ष इसे बोझिल बना देता। चित्रात्मक प्रस्तुति पूरी पुस्तक को पठनीय भी बनाती है और हमारी लोकसाहित्य, कहानी आदि की समझ में इजाफा भी करती है।

यदि बच्चों को ऐसी रोचक किताबें पढ़ने को मिलती, शिक्षक, अभिभावक कहानी किसी के महत्व को थोड़ा बहुत भी उस रूप में समझते जैसा तेजी ग्रोवर की किताब बताती है तो शिक्षा और स्कूल इतना डर पैदा नहीं करते। मुझे यदि आ रही हैं दो बच्चियां जो दिल्ली के स्कूल में जाने से भी डरती हैं जबकि उनकी मां के अनुसार जब वे फ्रांस में थीं तो यहीं बच्चियां कहती थीं कि क्या हम संडे को भी स्कूल जा सकते हैं?



II

इन्हीं प्रश्नों, चिंताओं से जूझते हुए समेश थानवी ने शिक्षा की पत्रिका अनौपचारिका में लगातार संपादकीय लिखे हैं। इन्हीं सबका संकलन है ‘शिक्षा का सच’। पुस्तक खोलते ही नजर टिकती है एक शाला: मां-बाप के लिए। वार्कइ! बहुत जरूरत है इस पक्ष पर ध्यान देने की। शिक्षा से जुड़े सभी का अनुभव बताता है कि मासूम बच्चों पर कितने क्रूर हाथों से हमला हो रहा है। स्कूल कह रहा है अपनी भाषा में बात की तो जुर्माना और कभी-कभी शारीरिक दंड भी। घर पर अभिभावक बच्चों की पल-पल पर नजर गढ़ाए हुए हैं- अविश्वास की पराकाष्ठा। चार्ट बनाकर टांग दिए हैं। स्कूल से लौटते ही 15 मीनट में खाना, फिर गाना, फिर ट्यूशन, फिर जिम, फिर पर्सनलटी विकास। ओलम्पिक गणित की विशेष कक्षा, रविवार को फुटबाल, क्रिकेट, स्वीमिंग क्लास, कोई उलटफेर हुआ कि शिकायतें, एक दूसरे पर आरोप। स्कूल के शिक्षकों से, प्रिंसीपल से। दुनिया भर से बच्चों को भी पागल करते और खुद भी पागलपन, अवसाद की तरफ बढ़ते। दुनिया भर में ऐसे अभिभावक नहीं मिलेंगे। रमेश जी ने इस लेख में कुछ किताबें भी सुझाई हैं- गिजूभाई की ‘मां-बापों की माथापच्ची’ रूस के शिक्षा शास्त्री मेकारेली की ‘माता-पिताओं के लिए’, मुखोमलीन्स्की की ‘बाल हृदय की’ गहराइयां, दादा धर्माधिकारी की ‘स्त्री पुरुष सहजीवन’। इसके अलावा महात्मा भगवानदीन, मान्त्सरी, पंचतंत्र आदि भी। लेकिन क्या शहरी अमीर कभी कुछ

पुस्तक : शिक्षा का सच
लेखक : रमेश थानवी
प्रकाशक: सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर
मूल्य (हार्ड बाईंड) : 250 रुपये

सुनने-जानने को तैयार होता है। उसे तो बस बच्चों के बहाने अपनी हारी हुई लड़ाइयों को जीतने, पाने की इच्छा है। बचपन मारा जा रहा है बच्चों का।

अनौपचारिका के अपने तेरह वर्षों के समय में उनसे शायद ही कोई प्रश्न छूटा हो। शिक्षा में हिंसा, शिक्षा का विज्ञान, नई तालीम, वसंत के रंग, शिक्षा में आशा, अध्यापक की योग्यता। एक लेख, शिक्षा मंत्रियों की शिक्षा कौन करे में उन्होंने इस देश के शिक्षा मंत्रियों की खबर ली है। कि आखिर उन्हें शिक्षा का दायित्व किस आधार पर दिया है? क्या लेखा जोखा है उनकी शिक्षा का? रमेश थानवी इनको भी दुनिया भर के शिक्षाविदों की किताबें पढ़ने की सलाह देते हैं। काश! कोई इन सलाहों को मानता।

एक जागरूक निर्भीक पत्रकार की पहचान अपने समय के सभी प्रश्नों से टकराना भी है। 2012 में एक स्कूली किताब में शंकर पिल्ले के कार्टून पर हुई बहस को देश कभी नहीं भूलेगा। ‘शिक्षा विमर्श’ का यादगार बहुत अंक इसे तो पाठ्य निर्माण से जुड़े हर व्यक्ति को पढ़ना चाहिए। उन्हीं शंकर को बहुत आत्मीयता से याद किया है इस लेख में। लोकतंत्र के लिए एक सीख भी कि जब नेहरू जी ने शंकर को कहा था- मुझे कभी बछाना नहीं शंकर। लेकिन छह दशक बाद उसी संसद के हंगामे से शिक्षा व्यावस्था भी शर्मशार हो उठी। अनिल बोर्दिया की याद भी ‘आखा जीवन शिक्षा के नाम’ लेख में रमेश उसी वैयक्तिकता के साथ करते हैं। पाठकों को संकेत देते-बोर्दिया जी के कामों को और जानने समझने के लिए। सुनो शन्तो! में संपादकीय खबूसूरत कविता की शक्लों में आया है तो एक लेख ‘प्रिय रवि’ में पत्र में स्वच्छ गद्य की भीनी-भीनी गंध। ज्यादातर सहज, सरल बतकही के अंदाज में तो कभी-कभी शिक्षा के गूढ दर्शन पर उंगली रखते। बहरहाल पुस्तक आपको देश और दुनिया के तमाम शिक्षाविदों, लेखकों को उनके कामों से संक्षेप में रुबरु कराती है। अब ये आपकी मर्जी कि शिक्षा के इस सच को आप जानना चाहते हैं या उससे बचकर, डरकर भागना। ◆

लेखक परिचय: कथाकार एवं लेखक हैं। शिक्षा पर लेखन एवं चिंतन उनके प्रिय विषय हैं। रेल्वे से सेवानिवृत्त हैं।
संपर्क: 9971399046; prempalsharma@yahoo-co-in, ppsharmarly@gmail.com